

धर्म, संस्कृति एवं समाज की नैसर्गिकता व द्वन्द्व

डॉ० अनुराग पाण्डेय*

मूलभूत प्रश्न यह है कि धर्मों तथा वर्तमान में उनके पारस्परिक द्वन्द्वों के मूल कारक तत्त्व क्या हैं? प्रश्नगत विवेचन के पूर्व सभ्यता व संस्कृति के पक्षों का विवेचन पूर्वगामी कारणता के परिप्रेक्ष्य में प्रासंगिक हो ही जाता है। वस्तुतः धर्मों का आदिम व सरलतम कारण हमारा मनुष्य होना तथा परिणामतः रहन-सहन है। हम मनुष्य हैं, अतः हमारे रहन-सहन तथा पारस्परिक अन्तर्क्रियाओं का एक सभ्य अथवा उससे भी अधिक, व्यापक आदर्शमूलक ढंग है जो हमारी संस्कृति का निर्माण करता है। इस संस्कृति के अन्तर्गत हमारी भाषा, व्यवहार, जगत-विषयक दृष्टिकोण, नैतिकता तथा संगठन व पवित्र स्थानादि आते हैं। इनकी अक्षुण्णता को बनाए रखना ही परम्परा है तथा परम्परा के मूल को ध्यान में रखते हुए इनमें समयानुसार बदलाव लाना ही आधुनिकता का प्रतीक। यहाँ परम्परा का मूल उसी तत्त्व को कहा जाना चाहिए जिसकी परिवर्तित होते समय में तार्किकता को सम्प्रेषित किया जा सके। धर्म क्यों है अथवा अनेक प्रकार के धर्म क्यों हैं, इस प्रश्न का समुचित उत्तर इसी विवेचन में सन्निहित है कि संस्कृति का कारण क्या था। वस्तुतः सभ्य बनने के क्रम में मानव-जाति ने जिन रहन-सहन व व्यवहार के आदिम-आदर्श-मूल्यों की संकल्पना की तथा जिनका अनुसरण करते हुए उनकी भावी सन्ततियाँ भी उस स्थान-विशेष तथा काल-विशेष व भविष्यकाल में सभ्य, निर्विरोध व सामंजस्यपूर्ण जीवन बिता सकती थीं, वे मूल्य ही संस्कृति कहे गए। पुनः सभ्यता का मापदण्ड प्रारम्भ में वही रहा होगा जिनके अनुसार वे एक समूह में तथा विभिन्न समूह परस्पर अविरोधपूर्वक जीवन बिताने का यत्न कर सकते हों। यह सभ्य से संस्कृत होने का प्रयास निश्चयतः उनके आत्मावलोकन का प्रयास था अतः संस्कृति का तत्त्व भी आन्तरिक पक्ष हुआ। इस आधार पर कहे तो वस्तुतः मनुष्य के चरित्र-निर्माण का सम्बन्ध धर्म से ही है। अब यदि जीवन-यापन हेतु पूर्व में अपनाए गए तथ्यों को यथावत् स्वीकार करते हुए इन तमाम विषयों को एक अलौकिक पवित्रता तथा आस्था के अर्थ में विवेचित किया जाय तथा इनके आधार पर ही वर्तमान को संरचित करने का प्रयास किया जाय तो यह वैचारिकी

दर्शनशास्त्र विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

अतार्किकता तथा अतितार्किकता के द्विध्रुवीय मापदण्ड पर आधारित रूढ़िवादिता ही होगी। इतिहासकार ई० एच० कार इसी विवेचना को अपनी पुस्तक What is History में उद्धरण के माध्यम से बताते हुए कहते हैं कि पूर्व में अपनायी गयी जीवन-शैली तथा मापदण्ड इतिहास है जिससे वर्तमान नहीं बनाया जा सकता है ठीक उसी प्रकार जैसे किसी कार के पीछे देखने वाले आइने से आप कार को आगे नहीं ले जा सकते हैं।¹ एतद्विपरीतार्थ में यदि ये विषय एक जीवन-पद्धति के आदर्श के रूप में अंगीकृत किए जाँय तो इसे संस्कृति आधृत धर्म की संकल्पना कहेंगे।

वस्तुतः जीवन-पद्धति के रूप में संस्कृति का अनुपालन ही धर्म कहा गया। जो जीवन-शैली हमें सभ्य बनाती है उसका आन्तरिक अंगीकृत आदर्श पक्ष ही संस्कृति है तथा उसका अनुपालन ही धर्म कहा गया। इसी अर्थ में कहा जाता है कि धर्म को मनुष्य ने बनाया तथा धर्म ने मनुष्य अथवा समाज को। इसी सन्दर्भ में जॉन हिक अपनी पुस्तक Philosophy of Religion में लिखते हैं कि 'यदि कोई व्यक्ति भारत में जन्म लेता है तो सम्भवतः वह हिन्दू होगा, यदि कोई ईजिप्ट में जन्म लेता है तो प्रायः वह मुसलमान होगा.....सभी धर्म वस्तुतः परम सत्ता के सन्दर्भ में दैवीय क्रियाविधियों तथा मानवीय प्रकृति व उसकी नियति के सन्दर्भ में परस्पर भिन्न ही हैं।'² इस प्रकार यदि मनुष्य के मनुष्य होने में दो संकायों को निर्धारित किया जाय तो ये संकाय वर्णन व चिन्तन (Narration and Contemplation) कहे जा सकते हैं, जिन्हें धर्म ने एकीकृत किया तथा प्रोत्साहित भी। हालाँकि धर्म इससे अधिक व्यापकता की विषय-वस्तु है। वस्तुतः हमारे प्रातिभासिक व्यवहार से पृथक दैनिक जीवन देश-काल, संस्कृति, इतिहास व प्रतीकात्मक व्यवहार से विच्छिन्न जागतिक जीवन के अर्थ में ही व्यवहृत होता है, वास्तविक जगत के रूप में कथमपि नहीं। अब यहाँ पर यह तार्किक रूप से सिद्ध होता है कि धर्म एक ऐतिहासिक विषय-वस्तु है साथ ही सापेक्ष भी, अतः उसका आविर्भाव होता है तथा समापन भी। पुनः यह भी कहा जाना असंगत नहीं होगा कि क्योंकि प्रत्येक धर्म का आविर्भाव उनकी संस्कृति के अनुपालन में निहित है अतः ये सभी धर्म अपनी आदिम अवस्था में लगभग एक सी मान्यताओं वाले रहे होंगे, यदि ये एक ही कालक्रम में आविर्भूत हुए हों अथवा इनके आविर्भूत होने की परिस्थितियाँ समान रहीं हों। पुनः यदि धर्मों की अनेकता तथा भिन्नता का पक्ष दृष्टिगोचर होता है, जैसा कि है, तब इसका तात्पर्य है कि इन धर्मों का कालक्रम, देश-काल अर्थात् जलवायु परिणामतः मनोवैज्ञानिक या संज्ञानात्मक यान्त्रिकता का पक्ष भी भिन्न रहा होगा जिनसे संस्कृति का पक्ष निर्मित होता है।

प्रश्न यह है कि धर्मों में पारस्परिक द्वन्द्वों का कारण क्या है? वस्तुतः इस प्रश्न का उत्तर इस विवेचना में सन्निहित है कि वर्तमान अर्थों में हम धर्म किसे स्वीकार करते हैं। पुनः इस तथ्य के भी दो पक्ष हैं प्रथम बाह्य अथवा व्यावहारिक पक्ष तथा द्वितीय वैचारिक पक्ष। व्यवहार में धर्म के आधार पहचान, प्रतीक अथवा चिन्ह हैं तथा

इस अर्थ में धर्म की व्यावहारिक व्याख्या हमारे चिन्तन के न्यूनतम स्तर का भी परिदृश्य है। उदाहरण के लिए हिन्दू की पहचान हम उसके टीका, शाकाहार, मन्दिर, पृथक भाषा तथा धर्मग्रन्थादि से करते हैं ठीक इसी प्रकार एक मुसलमान को हम मुसलमान इस अर्थ में पहचानते हैं कि वह दाढ़ी, हरे रंग, पवित्र ग्रन्थ कुरान तथा मस्जिद आदि प्रतीकों से युक्त है। सिक्ख इस अर्थ में सिक्ख कहा जाता है कि वह पाँच 'ककार' तथा पृथक प्रकार की भाषा-व्यवहार से युक्त है। प्रश्न यह है कि क्या ये प्रतीक धर्म हैं? वस्तुतः ये प्रतीक तथा कर्मकाण्ड धर्मानुपालन के बाह्य पक्ष हैं जिनकी आलोचना-प्रत्यालोचना की जा सकती है क्योंकि यह आस्था नहीं प्रत्युत् सभ्य तार्किकता का प्रश्न है। धर्म के इस पक्ष को निर्वात के अर्थ में (No man's land) एक सभ्य समाज स्वीकार नहीं कर सकता है। कारण यह है कि धर्म का वैचारिक पक्ष प्रायः जनमानस के समक्ष सूक्ष्म एवं प्रायः क्षणिक हुआ करता है परन्तु तर्क एवं बौद्धिकता का असीमित समावेश ही इसे व्यावहारिक धरातल पर स्थायित्व प्रदान करता है। इस प्रकार आलोचना-प्रत्यालोचना से परे तथा अतार्किक सन्दर्भ में धर्मों का यह पक्ष ही साम्प्रदायिकता व आतंकवाद जैसी अमानवीय घटनाओं का उत्तरदायी हो जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। समाज में हिंसा का कारण यदि धर्म है तो वह धर्म का यही पक्ष हो सकता है। पहचान के तत्त्व वास्तव में एक सामान्य सामाजिक सोच (Social-common-sense) का हिस्सा है।

सामान्य सामाजिक सोच वह है जिसका तार्किक होना अथवा सत्य होना आवश्यक नहीं है हालाँकि समाज का व्यापक वर्ग इसे सत्य स्वीकार करता है। कारण यह है कि व्यावृत्ति अथवा पार्थक्यता के अर्थ में समाज के किसी कालखण्ड में यह सोच कृत्रिम रूप से निर्मित की गयी है। विभिन्न देशों में अपने-अपने धर्म की कृत्रिम सुरक्षा हेतु अन्य धर्मों के सन्दर्भ में यह सामान्य सामाजिक सोच स्वार्थवश तैयार की जाती है। इसे इतिहास के साम्प्रदायीकरण के अर्थ में भी विवेचित किया जा सकता है जिसके अन्तर्गत विभिन्न धर्मों के अनुयायी राजाओं को अन्य धर्मों का विरोधी होने के रूप में चित्रित करना अन्यतम पक्ष है। जबकि ऐतिहासिक विश्लेषण यह दावा करता है कि किसी भी शासक के लिए सत्ता एवं आर्थिक उपादानादि ही उसके क्रिया-व्यवहार के लिए उत्तरदायी रहे हैं जिनमें सामान्य सामाजिक सोच के तहत धार्मिकता के प्रत्यय तथा उसमें भी केवल बाह्य पक्ष का स्वार्थवश समावेश किया गया है।

आन्तरिक अथवा वैचारिक पक्ष के रूप में प्रत्येक धर्म जिन मूलतत्त्वों अर्थात् नैतिक या सामाजिक पक्ष अथवा लाघव-न्याय से कहें तो संस्कृति को स्वीकार करता है वे तत्त्व लगभग सभी धर्मों में एकसमान हैं तथा इन धर्मों की जीवन्तता व गत्यात्मकता के भी मूल हैं। उदाहरण के लिए भारत के कुछ धर्मों तथा उनके आन्तरिक पक्ष को लेते हैं। सनातन धर्म कहता है 'वसुधैव कुटुम्बकम्'³ अर्थात् सम्पूर्ण पृथ्वी के लोग हमारे परिवार के भाग हैं। अब इस अवधारणार्थ में

कोई भी पृथक धर्म व उसका अनुयायी सनातन धर्म के लिए सम्मान तथा प्रेम का पात्र है। अपने पड़ोसियों से प्रेम करो (love thy neighbor as yourself) ईसाई धर्म का आन्तरिक मूल है जहाँ पड़ोस का तात्पर्य किसी घर के चतुर्दिक् 77 घरों से है जिनमें किसी भी धर्म के मानने वाले व्यक्ति का घर हो सकता है।⁴ यहाँ पर पड़ोसी शब्द पर ही बल दिया गया है अर्थात् यह स्वयं में विशाल मानवता के सम्प्रत्यय को संजोए हुए है। पुनः एक अन्य धर्म कहता है कि 'जिस व्यक्ति का पड़ोसी भूखे पेट सोता है उसे जन्त में स्थान नहीं मिलता'⁵ यह इस्लाम का नैतिक मूल्य है। हालाँकि इस्लाम का यह नैतिक मूल्य केवल मुस्लिम समुदाय के मानने वाले अपने पड़ोसियों के सन्दर्भ में ही है ऐसी व्याख्या भी प्राप्त होती है⁶ अतः इस परिप्रेक्ष्य का मूल्य आत्यन्तिक अतः अप्रासंगिक है। अब स्पष्ट है कि धर्म अथवा मजहब का यह पक्ष हिंसा का कारण नहीं हो सकता है।

वस्तुतः वैचारिक पक्ष पूर्वगामी है तथा इसके मूल्य ही एतत्सम्बन्धी बाह्य पक्ष का निर्माण करते हैं जबकि आवश्यकता मूल्यों के संरक्षण की है। आदिम तौर पर सामाजिक आचरण की वह व्यवस्था जो व्यक्तियों को परस्पर सम्बद्ध कर समुदाय के रूप में तथा अन्ततः समाज को संगठित करती है, धर्म कहलाती है। इस प्रकार धर्म के आन्तरिक अंग के रूप में नैतिकता तथा मूल्य स्वयमेव अन्तर्निहित हैं जो भावनात्मकता के अंगीभूत स्तर पर एकीकृत समाज का निर्माण करते हैं। ये मूल्य समाज के सभ्य तथा सांस्कृतिक क्रिया-व्यवहार से प्राप्त एवं संरक्षित होते हैं। इन्हीं नैतिक मूल्यों के प्राप्त्यर्थ एवं संरक्षणार्थ जब मनुष्य किसी अलौकिक शक्ति का सहारा लेता है⁷ तब धर्म की इसी संकल्पना के सतही स्तर पर वह प्रतीकों, पुरोगामी प्रकाशना से सम्बन्धित आस्था एवं नैतिकतापरक ग्रन्थों का निर्माण करता है। मूल्य भी वस्तुतः देशकाल सापेक्ष ही हैं जिनकी अलौकिक उपजीव्यता धर्म का निर्माण करती है। किसी भी धर्म में मूल्य के साथ-साथ भावना का पक्ष भी समाविष्ट होता ही है जो निरपेक्ष नैतिकता को धार्मिकता का सम्प्रत्यय प्रदान करता है।

हालाँकि यथार्थता के सतही धरातल पर वैचारिक पक्ष की विवशता यह है कि जहाँ तक धर्म के इतिहास का अलिखित पक्ष है वहाँ तक यह धर्म के सम्बन्ध में कल्पना तथा रहस्यात्मकता के पक्ष को अलौकिकता प्रदान करता है परन्तु जहाँ से लिखित विवरण प्राप्त होता है उस अर्थ में यह स्वयं को प्राधिकृत अर्थ में प्रस्तुत करते हुए सामान्य जन को गुमराह करता है। इस अर्थ में एक विशिष्ट परिप्रेक्ष्य में इस्लाम को विवेचित किया जा सकता है ऐसा टॉम हॉलैण्ड अपनी पुस्तक *In the Shadow of the Sword*⁸ में विवेचित करते हैं। सम्भवतः इसके अन्तर्गत उन धर्मों को रखे जाने का प्रयास किया गया है जिनका उदय एक विशिष्ट व्यक्ति द्वारा हुआ है तथा जिनका इतिहास व परम्परा से सम्बन्ध नगण्य है। इस अर्थ में अमेरिकी प्रोटेस्टेण्ट धर्म भी इसी सन्दर्भ का है। पुनः एक ही विशिष्ट व्यक्ति द्वारा चलाए गए कतिपय धर्मों ने परम्पराओं में अंशतः विकृतियाँ भी उत्पन्न की हैं जिनमें

यहूदी धर्म प्रमुख है जिसे एक लोकधर्म के निर्वासन के रूप में याद किया जाता है तथा जिसका सम्बन्ध मूसा द्वारा किसी आविष्कृत आकृति पर ही केन्द्रित रहा। पुनः धर्म का एक अन्य प्रकार वह भी है जिसे लोक-मान्यताओं के संगम (Coalescence of folk beliefs) के रूप में वर्णित किया जा सकता है। सनातन धर्म का संकीर्ण रूप तथाकथित हिन्दू धर्म इसी प्रकार का है। मेरा मन्तव्य यहाँ धर्मों का वर्गीकरण नहीं है प्रत्युत् यह निर्देश धर्मों व संस्कृतियों के पाचक सिद्धान्त तथा उनके स्वयं के एकात्मिकता व सर्वोत्कृष्टता अथवा अनन्यता के भाव (Concept of Exclusivity) से है।

यहाँ पर पाचक सिद्धान्त (Digestion theory) से मेरा तात्पर्य उस निषेधात्मक क्रियात्मक व्यवहार से है जिसके आधार पर विभिन्न स्थानों पर उत्पन्न हुए तमाम धर्मों के प्रति विस्तारवाद की नीति तथा नैतिक मूल्यों की समरूपता के आधार पर अन्य सिमेटिक अथवा मजहबी धर्मों ने स्थानिक धर्मों की मान्यताओं को प्रथमतः आत्मसात् किया तथा अन्ततः उन धर्मों के अस्तित्व को ही विलुप्त कर दिया जो स्थानीय सामाजिक व सांस्कृतिक धरातल पर उस स्थान पर प्रादुर्भूत हुए थे। इसके परिणामस्वरूप कालान्तर में सिमेटिक धर्मों ने अपने-अपने धर्मों की सर्वोत्कृष्टता अथवा अनन्यता की मिथ्या स्थापना की। पुनः आत्मसातीकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप आत्मसात् हुए धर्मों का विलुप्त होना तार्किकतया अवश्यम्भावी ही था। मिस्र तथा अफगानिस्तान जैसे देशों की स्थानीय संस्कृतियों का विलुप्त होना इस प्रकार की क्रियात्मकता का ज्वलन्त उदाहरण है।

मेरा मन्तव्य है कि सर्वोत्कृष्टता का यह भाव एक धर्म की दूसरे धर्म से भिन्नता की घबराहट है। भिन्नता का यह भय भिन्नता के स्वरूप की व्यापकता के कारण नहीं प्रत्युत् भिन्नता के दृष्टिकोण में है। दार्शनिक अर्थ में भिन्नता के चरित्र को समझना इस हीन भावना के निराकरणार्थ श्रेयस्कर हो सकता है। यदि भिन्नता का अर्थ अतिविशिष्टता अथवा अनन्यता (exclusiveness) के सन्दर्भ में है कि 'मेरा मत सत्य है तथा अन्य सभी मत निरर्थक हैं' तब यह तनाव व हिंसा का कारण है अन्यथा विविधता अथवा भिन्नता ही तो नैसर्गिकता है। वैचारिक तौर पर भारत में सनातन धर्म के सन्दर्भ में भिन्नता का नैसर्गिक स्वरूप ही स्वीकार किया जाता है। सनातन धर्म में सबसे बड़ा धर्म 'स्वधर्म' को ही बतलाया गया है। जिसका अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति का अपना स्वधर्म है। कोई व्यक्ति एक दूसरे के धर्म में हस्तक्षेप नहीं करता तथा न ही किसी विशेष प्रकार के कर्मकाण्ड अथवा ग्रन्थ अथवा देवता को ही स्वीकार करने की बाध्यता है। स्वधर्म की अवधारणा में ही पारस्परिक सम्मान की भावना सन्निहित है परन्तु पारस्परिक सम्मान की भावना भी औपाधिक है। जिसका अर्थ है कि यदि आप हमारी भावनाओं का सम्मान करते हैं तो ऐसी परिस्थिति में हम भी आपकी भावनाओं का सम्मान करते हैं। अन्य लगभग सभी धर्मों में अपने से पृथक धर्मों के लिए एक नीतिगत शब्दावली का

प्रयोग किया गया है— सहिष्णुता। परन्तु 'मैं किसी के प्रति सहिष्णु हूँ' यह वाक्य वस्तुतः निषेधात्मक है क्योंकि इसमें यह भाव निहित है कि 'मेरा मत तो सर्वोत्कृष्ट है परन्तु मैं आपको भी सहन करता हूँ' अर्थात् हम किसी का सम्मान नहीं करते बल्कि उन्हें सहन करते हैं। इस सन्दर्भ में मॉरिस क्रैन्सटन के लेख 'Toleration' का उल्लेख प्रासंगिक है जहाँ उनका कहना है कि 'सहिष्णुता, जिसे हम नापसन्द अथवा अननुमोदित करते हैं, उसे भी धैर्यपूर्वक सहन करने की नीति है।' अब यहाँ पर विभिन्न उदारवादी भाषायी विचारकों के द्वारा सर्वधर्मसमन्वय की शब्दावली के व्युत्पत्त्यात्मक खेल व अन्याय की विवेचना प्रासंगिक नहीं रह जाती है।

पुनः बाह्य पक्ष के रूप में भी सनातन धर्म मानवीय व सामाजिक सम्बन्धों की चेतना के स्वरूप को आक्रान्त करता हुआ प्रकृतिपरक तथा उससे भी परे देवत्व को प्राप्त होता गया। जहाँ यह किसी सम्प्रदाय अथवा देश-काल की परिधि से निरपेक्ष अर्थ में स्वयं वस्तुतत्त्व की भूमिका में आ गया। ऐसा कहने का यह तात्पर्यार्थ कथमपि नहीं है कि कभी यह सामयिक उपयोगिता के पर्यायार्थ में नहीं रहा होगा प्रत्युत् निर्देश यह है कि धर्म का जब से लिखित स्वरूप प्राप्त होता है तब से यह विकसित रूप में काल से अपरिच्छिन्न रूप का ही बोधक रहा है। जिसका मूल साध्यार्थ आत्म-चिन्तन से आत्मशुद्धि तथा बाह्य पक्ष के रूप में सदाचरण तक ही सीमित रहा। जहाँ सदाचरण को अध्यात्म की कसौटी कहा गया। पुनः निरपेक्षता का प्रत्यय वैचारिक नहीं प्रत्युत् आध्यात्मिक है अतः इससे अन्य धर्मों अथवा मजहब की प्रासंगिकता व वैचारिकता पर कोई प्रश्नचिन्ह नहीं उत्थापित होता है। हालाँकि वर्तमान में सनातन धर्म के संकीर्ण व सम्प्रदायवादी अर्थ अर्थात् हिन्दू धर्म में धरातल पर सब कुछ सामान्य है, विकृतिरहित है, ऐसा कहना असंगत होगा। कारण यह है कि अन्य धर्मों तथा मजहबों के पाचक सिद्धान्त की क्रियात्मकता से स्वरक्षा के प्रयत्न में यह भी नैसर्गिकता व आदर्श से पृथक तथा तथाकथित रूप से सम्प्रदायवादी हो चला है। जबकि वास्तविकता यह है कि धर्म के वे समस्त मूल्य जिनकी आदिम तार्किक मान्यता पर उस धर्म के मानने वाले क्रियावान नहीं रह सकते हैं प्रायः उन्हीं मूल्यों का आत्मसातीकरण होता है। सम्प्रदायों के रूप में धर्म का विवेचन किए जाने का तात्पर्य यह है कि बाह्य पक्ष मात्र पर ही बल दिया जा रहा है अतः इसका कारण भी धर्म का बाह्य पक्ष अर्थात् प्रतीकों, भाषा व अन्य पृथकतापरक चिन्हों के प्रति कट्टरता ही होगी।

वस्तुतः साम्प्रदायिक अर्थ में धर्म की अपनी सीमितता होती है। उसका अपना संगठन तथा एक अथवा अधिक धर्मग्रन्थ, कर्मकाण्ड तथा तत्त्वर्णित प्रतीक होते हैं। जब भी धर्म लौकिक परिस्थितियों, मानवीय व सामाजिक आविष्कृतताओं से स्वयं को पृथक करते हुए अलौकिक पक्ष पर अधिक बल देता है तथा नैतिकता को भी उसी तत्त्वमीमांसीय परिप्रेक्ष्य में स्थापित करने का प्रयास करता है तब वह धर्म के दायरे से बाहर जाकर वस्तुतः एक पन्थ अथवा मजहब का निर्माण कर रहा होता है तब वह तार्किकता के स्थान पर रहस्य को तथा अन्धविश्वास को प्रश्रय प्रदान कर रहा होता

है क्योंकि नैतिकता का सीधा सम्बन्ध लोकव्यवहार से है¹⁰। यह सार्वभौमिकता के स्थान पर व्यक्तिनिष्ठता तथा आस्था को स्वीकार करते हुए अन्ततः निर्भरता को समाविष्ट करता जाता है। हिन्दू धर्म के रूप में धर्म की मान्यता ने कर्मकाण्डीय विकृतियों व तत्त्वमीमांसीय कट्टरता से युक्त होकर भारत के मूल से आविर्भूत हुए बौद्ध व जैन जैसे उन विशाल धर्मों को अपने स्वाभाविक दायरे से बाहर कर दिया है जिनमें नैतिकता व सदाचरण के आदिम सनातनी मूल्यों की ही प्रतिच्छाया स्पष्ट हो रही थी। यह सम्भवतः तत्कालीन राजनीतिक परिदृश्य की अपनी सीमितता, सामाजिक संरचना की अवहेलना व कूपमण्डूकता का स्पष्ट परिणाम था अथवा पाचक सिद्धान्त का भय जिससे वर्तमान में भी हम उबरने के लिए प्रयासरत नहीं हैं।

प्रायः सभी धर्मावलम्बी यही दावा करते हैं कि उनका ही धर्म सभी मनुष्यों के कल्याण हेतु प्रशस्त है परन्तु प्रश्न यह है कि जैसा कि सभी धर्मों की आधारशिला अन्ततः एकेश्वरवाद है अतः हम यह अवश्य स्वीकार करते हैं कि अन्ततः सभी धर्म एक हैं अर्थात् उनका गन्तव्य—बिन्दु एक है तथापि क्या सर्वधर्मसमन्वय की अवधारणा के आधार पर सभी धर्मों की मूल मान्यताओं का समन्वय करते हुए एक धर्म की स्थापना की जा सकती है? यही प्रश्न धर्मों की निरपेक्षता तथा सर्वोत्कृष्टता पर प्रश्नचिन्ह लगा देता है तथा यह स्वीकार करता है कि धर्म वस्तुतः सापेक्ष तथा ऐतिहासिक विषय—वस्तु है। पुनः निरपेक्षता का खण्डन उचित ही है क्योंकि निरपेक्ष होने का भाव स्वयं सर्वोत्कृष्टता का भाव है जो अन्य धर्मों तथा मतों को असत्य तथा अधर्म के रूप में स्वीकार करता है।

प्रत्येक व्यक्ति के निवास—स्थान अतः मानसिक अवस्था तथा श्रद्धा का पक्ष पृथक है। प्रत्येक धर्म व्यक्ति तथा समुदाय की बौद्धिकता पर आधृत है अतः बहुआयामी अवधारणा के सौन्दर्य के साथ ही वे समान रूप से अपूर्ण हैं। एक धर्म के विश्वास अन्य धर्मों के विश्वास में परिवर्तनीय नहीं हो सकते हैं। हालाँकि इस सन्दर्भ में रेमण्ड पन्निकर का मानना है कि 'सभी धर्मों की प्रकृति समान है अतः सर्वधर्मसमन्वय को संवाद एवं द्वन्द्वात्मक पद्धतियों अथवा तर्कों के द्वारा सम्भव बनाया जा सकता है'¹¹ जिससे मैं सहमति नहीं रखता हूँ। कारण यह है कि यहाँ तथ्य का प्रस्तुतीकरण दो धर्मों के बीच न होकर वस्तुतः किसी धर्म तथा मजहब के बीच हो जाता है जहाँ मजहब में तार्किकता का स्थान वहीं तक प्रश्रय प्राप्त करता है जहाँ तक उसमें अलौकिकता, आस्था व रहस्यात्मकता का पुट नहीं है। जहाँ मजहब अथवा सिमेटिक धर्मों में प्रस्तुत तथ्यों में तार्किकता की माँग करना एक प्रकार का धर्मद्रोह है तथा दण्डनीय अपराध है। इस प्रकार सर्वधर्मसमन्वय का भाव भी अन्ततः पाचक सिद्धान्त की विकृति के रूप में ही परिलक्षित होता है। इसी परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखते हुए सर्वधर्मसमभाव अथवा समादर एवं सर्वधर्मसहभागिता जैसे सम्प्रत्यय अप्रासंगिक हो जाते हैं। वास्तविकता है धार्मिक बहुलवाद की। आदर्श के रूप में किसी भी धर्म की संकल्पना का प्रत्यय कितनी भी सर्वोत्कृष्टता को प्राप्त हो गया हो तथापि

जब तक वह अन्तिम व्यक्ति तक इस अवधारणा का निर्देश नहीं कर देता है, उसे सापेक्ष बने रहना चाहिए। पुनः धार्मिक बहुलवाद की संकीर्ण एवं आस्थापरक अवधारणाएँ 'पुरोगामी प्रकाशना' अथवा तटस्थतादि के मिथकों के आधार पर अन्य धर्मों की मान्यताओं का निरसन कर देती हैं। डॉ० राधाकृष्णन ने इसी परिप्रेक्ष्य में कहा है कि अपने धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्म के विनाश की बात करना एक प्रकार का बोल्शेविज्म है।¹² वस्तुतः धर्मों का सर्वोच्च प्रत्यय सर्वधर्मसमन्वय की किसी भी वैचारिकी से उत्पन्न एक रंगहीन एकरूपता के स्थान पर महान सामंजस्य की अपेक्षा करता है जिसकी पूर्ति सामान्य पंथ की तरह न होकर सामान्य खोज के आधार पर ही सम्भव है। प्रकृत्या किसी भी धर्म की मान्यता से मानवीय बुद्धि अपनी श्रीवृद्धि कर सकती है, जिसमें उसकी आस्था हो। एतद्विपरीत यदि कोई भी धर्म अपनी सर्वोत्कृष्टता का दावा करता है तो वह वस्तुतः अपनी उत्पत्ति तथा मूलभूत सांस्कृतिक सत्यता के विपरीत यह दावा करने का प्रयास कर रहा होता है कि मैं सर्वोत्कृष्ट इसलिए हूँ क्योंकि मेरे पंजे में छः उंगलियाँ हैं, जो कि नैसर्गिक आधार पर एक रोग है।

सन्दर्भ एवं टिप्पणी

- 1 Carr, E. H. (1987) : *What is History*, penguin books, London, p. 11.
- 2 Hick, John H. (1988): *Philosophy of Religion*, Prentice Hall, Inc., New Delhi, pp. 107-108.
- 3 पंचतन्त्र, 5/3/38।
- 4 Holy Bible, Mark, 12:28-31 (BBE).
- 5 **He who sleeps on a full stomach while his neighbor is hungry is not one of us." Muslim, Iman, 74, Birr wa Sila, 142; Ahmad b. Hanbal, 1, 55)**
- 6 The Quran (9:23) states that the believers should not take for friends and protectors (awlia) their fathers and brothers if they love Infidelity above Islam.
- 7 Wright, W. K. (1922): *A Student's Philosophy of Religion*, Hodder and Stoughton, London, p. 47.
- 8 *In the Shadow of the Sword: The Birth of Islam and the Rise of the Global Arab Empire* (2013): Knopf Doubleday Publishing Group, New York.
- 9 Maurice, Cranston (1967): *Toleration*, The Encyclopedia of Philosophy, Vol. 8, Paul Edwards (Ed.), New York, MacMillan, p. 143.
- 10 सर्वलोकव्यवहारस्थितिनीत्या बिना न हि। पुरुकनीति, 1/11 एवं पिपन्नयां नीतौ सकलमवषं सीदति जगत। हितोपदेश, 2/75।
- 11 Pannikar, Raimundo (1978): *The Intra-Religious Dialogue*, Paulist Press, New York, p. 22. : I am saying that in a certain respect they exhibit the same nature, which makes dialogue, even dialectics, possible.
- 12 Radhakrishnan, S. (1926): *The Hindu View of Life*, George Allen & Unwin Ltd., London, pp. 58-59.

